Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. VII, Issue No. XIV, April-2014, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

वैदिक काल में जाति व्यवस्था

AN INTERNATIONALLY INDEXED PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. VII, Issue No. XIV, April-2014, ISSN 2230-7540

वैदिक काल में जाति व्यवस्था

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan

***सार –** सामान्य रूप से विभिन्न विद्वानों की धारणा यह है कि जाति व्यवस्था प्राचीन है और हमेशा कठोर, स्थिर और अन्यायपूर्ण थी जैसा कि अब है। आम समझ में यह काफी हद तक माना जाता है कि इस प्रणाली को वैदिक ब्राहमणों द्वारा दूरस्थ अतीत में स्वार्थी उद्देश्यों के लिए जनता पर मजबूर किया गया है और तब से इसका संकलन किया जाता है। बहुत मान्यताओं को सुधारना होगा क्योंकि वे एक भ्रामक आधार पर आधारित हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। इसके अलावा, वैदिकधर्म की वर्ण व्यवस्था और हिंदूधर्म की जाति व्यवस्था के बीच कोई संबंध नहीं है, हालांकि दोनों ने बाद के समय में एक-दूसरे को पीड़ा देना शुरू कर दिया। पाश्चात्य विद्वानों ने "वर्ण" और "जाति" शब्दों का जाति के रूप में अनुवाद किया है जो कि गलत है और इसने सामाजिक व्यवस्था को समझने में अनावश्यक भ्रम और बाधा पैदा की है जिसे प्रकृति में बहुत जटिल माना गया है। वर्ण व्यवस्था से जातियां बाहर नहीं निकलीं। जाति अंतर-वर्ण अनुलोम या प्रतिलोम विवाह का उत्पाद नहीं है। मध्यकालीन युग के वैदिक विद्वानों ने वर्ण व्यवस्था के दायरे में जाति व्यवस्था को फिट करने की कोशिश की, लेकिन वे इस प्रयास में पूरी तरह विफल रहे।*

---------------------------------x---------------------------------

परिचय

असमानता आधारित जाति व्यवस्था भारतीय समाज की अनूठी विशेषता है। सामान्य रूप से विभिन्न विद्वानों की धारणा यह है कि जाति व्यवस्था प्राचीन है और हमेशा कठोर, स्थिर और अन्यायपूर्ण थी जैसा कि अब है। आम समझ में यह काफी हद तक माना जाता है कि इस प्रणाली को वैदिक ब्राहमणों द्वारा दूरस्थ अतीत में स्वार्थी उद्देश्यों के लिए जनता पर मजबूर किया गया है और तब से इसका संकलन किया जाता है। बहुत मान्यताओं को सुधारना होगा क्योंकि वे एक भ्रामक आधार पर आधारित हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। इसके अलावा, वैदिकधर्म की वर्ण व्यवस्था और हिंदूधर्म की जाति व्यवस्था के बीच कोई संबंध नहीं है, हालांकि दोनों ने बाद के समय में एक-दूसरे को पीड़ा देना शुरू कर दिया। पाश्चात्य विद्वानों ने "वर्ण" और "जाति" शब्दों का जाति के रूप में अनुवाद किया है जो कि गलत है और इसने सामाजिक व्"वस्था को समझने में अनावश्यक भ्रम और बाधा पैदा की है जिसे प्रकृति में बहुत जटिल माना गया है। वर्ण व्यवस्था से जातियां बाहर नहीं निकलीं। जाति अंतर-वर्ण अनुलोम या प्रतिलोम विवाह का उत्पाद नहीं है। मध्यकालीन युग के वैदिक विद्वानों ने वर्ण व्यवस्था के दायरे में जाति व्यवस्था को फिट करने की कोशिश की, लेकिन वे इस प्रयास में पूरी तरह विफल रहे।

डॉ। अजय मित्रा शास्त्री इस संबंध में कहते हैं कि, -जैसे ही विभिन्न व्यवसाय वंशानुगत हो गए, उन्होंने जातियों का गठन किया। वर्ण व्यवस्था में विभिन्न जातियों को समायोजित करने के लिए, स्मृति मानी जाने वाली औलोमा (उच्च वर्ण पुरुष के साथ निम्न वर्ण की स्त्री का विवाह) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के पुरुष से उच्च वर्ण की स्त्री) का विवाह विभिन्न जातियों के उभरने के लिए जिम्मेदार होता है। हालाँकि, ऐसा लगता है कि यह प्रयास विफल हो गया है क्योंकि लोगों ने विभिन्न दान शिलालेखों में अपनी पेशेवर जातियों का उल्लेख किया है। "(अनुवाद मेरा) शास्त्री आगे कहते हैं कि इन व्यावसायिक जातियों ने उस समय के अर्थशास्त्र में एक प्रमुख भूमिका निभाई थी। हालांकि, वैदिक दृष्टिकोण से गैर-वैदिक जनता की जातियों (व्यवसायों) को समझाने के लिए जिस विचार का आविष्कार किया गया था, वह निश्चित रूप से था। अपमान के रूप में परिभाषा ने उन्हें भ्रष्ट वैवाहिक संबंधों के एक उत्पाद के रूप में माना। यह जनता द्वारा स्वीकार किया गया है या बल्कि उन्हें शायद यह भी पता नहीं है क्योंकि वे वैदिक साहित्य से वैसे भी निषिद्ध थे।

हम जो कह सकते हैं, वह वेदिकों के नैतिक भ्रष्टाचार का बेहतरीन उदाहरण है। यहां डॉ। शास्त्री देश के कई शूद्र राजवंशों के उद्भव की व्याख्या करते हुए महाराष्ट्र के प्रारंभिक इतिहास की बौद्ध गुफाओं में दान शिलालेखों का जिक्र कर रहे हैं, जो अन्यथा रॉयल अधिकारियों को स्मित्रिट के अनुसार रखने से

प्रतिबंधित थे। हम महाभारत, शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति में वर्णित कई शूद्र राजाओं के उदाहरण भी जानते हैं। डॉ। शास्त्री कहते हैं कि कई शूद्र राजा प्रारंभिक और मध्ययुगीन युग में भी शक्ति में आए, विशेष रूप से दक्षिण भारत में और गर्व के साथ उन्होंने शिलालेखों में अपने गैर-वैदिक (यानी शूद्र) की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

इस युग के दौरान, लगभग सभी व्यावसायिक व्यवसायों को गैर-वैदिक जनता द्वारा नियंत्रित किया गया था, जिन्हें वेदिकों ने शूद्रों के रूप में संदर्भित किया था। शूद्र राजा थे। वे धन उधार देने वाले, कारीगर, जमींदार, किसान, शूरवीर, व्यापारी, समुद्री किसान, सेवा प्रदाता और सैनिक थे। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जहां शूद्रों को अधिकारियों को रखने से प्रतिबंधित किया गया हो, कोई बात नहीं वैदिक शास्त्रों ने हर समय बहुत ही विचार का खंडन किया। सबसे महत्वपूर्ण बात, योद्धा कभी भी भारतीय समाज में एक स्थायी वर्ग नहीं था। राजाओं ने शायद ही कभी सेनाओं की स्थापना की। ज्यादातर किसान और किसान पार्ट टाइम सिपाही होते, जबकि अधिकांश अपने कमांडरों को जमींदोज कर देते। राजा जरूरत के समय में अपनी सेना को इकट्ठा कर लेते थे। ऐसा पेशा अनिवार्य रूप से वंशानुगत रहा है। यह पसंद का व्यवसाय था, वैदिक वर्ण व्यवस्था से असंबंधित क्योंकि वे इसका हिस्सा नहीं थे। यह गलत तरीके से माना गया है कि शूद्र वैदिक समाज का हिस्सा थे और उन्होंने बिना किसी विरोध के अपने धार्मिक आदेशों का पालन किया। हैरानी की बात है कि जाति व्यवस्था की व्याख्या करते हुए, वैदिक विद्वान हमें यह बताने से नहीं रोकते कि समाज नेधर्मशास्त्रों की आज्ञाओं का पालन कैसे किया, जब साक्ष्य उनके दावों के विपरीत जाते हैं। फिर भी, गलतफहमी आधुनिक समय के विद्वानों को भी सताती है, इस प्रकार, आम लोगों के मन में एक भ्रम पैदा होता है और जाति उन्मूलन आंदोलन के मार्ग में एक बड़ी बाधा बन गया है। एक और धारणा यह है कि आक्रमणकारी आर्यों ने आदिवासियों को हरा दिया और उनके लिए निम्न वर्ण की स्थिति और जाति व्यवस्था लागू की। यह भी सच नहीं है क्योंकि आर्यन के आक्रमण सिद्धांत को पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचारित किया गया था और भारतीय विद्वानों द्वारा नेत्रहीन रूप से विभिन्न पुरातात्विक,धर्मग्रंथों और आनुवांशिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है। यद्यपि आर्यों या भारत-यूरोपीय भाषा बोलने वालों के भारत आने का मुद्दा स्थानीय लोगों पर सांस्कृतिक और भाषाई प्रभाव को प्रभावित करने के लिए अभी भी विभिन्न आधारों पर चर्चा की जा रही है, फिर भी तथ्य यह है कि वर्ण और जाति व्यवस्था पूरे तथाकथित से अनुपस्थित हैं इंडो-यूरोपीय दुनिया। इसके अलावा, कोई आईओटी नहीं है

वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा प्रकृतितः और सिद्धांत: अलग हैं। इनमें अनेक विशिष्ट अन्तर हैं किन्तु प्रायः लोग वर्ण और जाति को एक ही मान लेते हैं। ऋगवैदिक समाज चार वर्णों में विभाजित था – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके अतिरिक्त अवर्ण थे। वैदिककाल में वर्ण की रेखा अलंघ्य न थी। क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकते थे और हुए भी। विश्वामित्रा अपने तप से क्षत्रिय ब्राह्मण ही नही हुए अपितु गोत्रा ऋषि भी बन गए। यहां तक की शूद्रों ने भी ब्राह्मणत्व पाया। स्वयं व्यास भी धीर कन्या के पुत्रा थे। उफंचे अध्किार विषियों को प्राप्त थे। जो मन्त्राकार थे। ये ऋषि किसी भी वर्ण के हो सकते थे। कभी-कभी तो सामान्य जनता में भी ऋषि पैदा होते थे। ब्राह्मणों का वर्चस्व तो वेदांगो के बाद स्थापित हुआ। चारों वर्णों के साथ कुछ रंगो का संबंध् भी जोड़ा गया। जैसे ब्राह्मणों के साथ सपफेद, क्षत्रियों के साथ लाल, वैश्यों के साथ पीले और शूद्रों के साथ काले रंग का योग मिलता है।

जाति से अभिप्राय:

जाति के लिए अंग्रेजी में कास्ट (caste) शब्द का प्रयोग होता है। यह पुर्तगाली भाषा के कैस्टा (casta) शब्द से बना है, जिसका अर्थ वंश (breed) नस्ल (kind) या वर्ण से होता है।[1] जाति की परिभाषा तो इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति से भी कठिन है। “जाति” की विभिन्न विद्वानों द्वारा जो परिभाषाएं दी गईं हैं उनका समग्र कथन यह है कि जाति ऐसे परिवारों या समूहों का संग्रह है जिनके समान नाम हों, जो अपनी जाति की उत्पत्ति किसी पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्ति से मानते हों, जो एक ही पुश्तैनी व्यवसाय करते हो और जिन्हें दूसरे व्यक्ति एक समांगी बिरादरी मानते हों। जाति जन्म स्थिति के आधर पर उच्च व निम्न पद वाले समूह होते हैं जो आमतौर पर अन्तर्विवाही होते है तथा एक पेशे से जुडे होते हैं। जाति एक बन्द वर्ग है। जिसमे व्यक्ति की स्थिति में परिवर्तन होने का कोई प्रश्न नहीं होता है। एक जाति का सदस्य आजीवन दूसरी जाति का सदस्य नहीं बन सकता। इस प्रकार जब एक वर्ग पूर्णतः वंशानुक्रम पर आधरित होता है तब उसे हम एक जाति कह सकते हैं। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को जन्म से एक विशेष जाति की सदस्यता ही प्राप्त नहीं होती बल्कि सामाजिक स्थिति का हस्तांतरण भी पिता से पुत्रा को होता है जिसमें आजीवन कोई परिवर्तन संभव नहीं है।[2] जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवांशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्रा में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबंध् लगाता है, इसके सदस्य या तो सामान्य परम्परागत व्यवसायों को करते है अथवा किसी सामान्य आधर पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य होते हैं। जाति-

व्यवस्था समाज का खण्डात्मक विभाजन है जो व्यवसायों के आधर पर होता है, जिसमें खण्ड श्रेणीक्रम के आधर पर व्यवस्थित होते हैं और जिसमें खण्डों और जातियों के विवाह, खान-पान, तथा सामाजिक व्यवहार की दूरी होती है। प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते है।[3] जाति-व्यवस्था जातियों की असमानतावादी व्यवस्था है, जिसके प्रमुख लक्षण श्रेणी क्रम, व्यवसायिक विभाजन एवं असमानता के संस्थात्मक विधन हैं। सामाजिक व्यवहार की दूरियों में छूआ-छूत एवं आपसी व्यवहार की दूरी सम्मिलित है। अनेक जातियों के निश्चित व्यवसाय हैं। ब्राह्मण सबसे उफंचे सोपान पर है। जन्म मनुष्य की जाति निश्चित करता है, जिसका वह आजीवन सदस्य रहता है, बशर्ते कि वह सुप्रतिष्ठित नियमों को तोड़ने के कारण जाति से बहिष्कृत न किया गया हो। अन्यथा जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन संभव नहीं है। यह पूरी व्यवस्था ब्राह्मण के सम्मान के चारों ओर घूमती है।[4] इसप्रकार जाति की जिसकी सदस्यता जन्म पर आधरित होती है और यह अपने सदस्यों पर खान-पान, विवाह, व्यवसाय और सामाजिक संबंधे से संबंध्ति अनेक प्रतिबन्धें को लागू करती है।

वैदिक साहित्य में जाति-सन्दर्भ:

सामाजिक दृष्टि से सूत्रा साहित्य का गम्भीर अध्ययन करने वाले इतिहासकारों की राय है कि जातियों में उपजातियों का विकास सूत्राकाल में होने लगा था। वस्तुतः सूत्राकाल में जातियों में उपजातियों का बहुत स्पष्ट वर्गीकरण नहीं मिलता, लेकिन वर्णसंकर सन्तानों का वर्गीकरण अवश्य मिलता है। इन वर्णसंकरों के अलग-अलग समूह बना दिए गए थे तथा उनके कार्य भी प्रायः नियत कर दिए गए थे। जातियों एवं उपजातियों के प्रादुर्भाव का कारण सूत्राकारों के अनुसार जहां एक और अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह थे वहीं दूसरी और परव्यवसायानुशीलन भी इसका उल्लेखनीय कारण बना। सूत्राकार स्ववर्ण-विरुद्ध व्यवसाय करने के समर्थक नहीं थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में स्ववर्ण-विरुद्ध व्यवसाय से धर्म हानि एवं जात्यपकर्ष होता है। इसी कारण सूत्राकारों ने राजा का यह प्रमुख कर्तव्य माना था कि वे वर्ण-धर्म की रक्षा करें। आपस्तम्ब ने इसी कारण सदैव सवर्ण-विवाह पर ही बल दिया। उनकी दृष्टि में वर्गान्तर स्त्री से उत्पन्न पुत्रा दोषी एवं स्ववर्ण-धर्म का अनुत्तराधिकारी होता है। गौतम ने यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर अनुलोम (पुरुष द्वारा एक वर्ण नीचे की कन्या से विवाह) एवं प्रतिलोम विवाह (पुरुष द्वारा उच्च वर्णीय स्त्री से विवाह) करने की अनुमति प्रदान की है।[5] परन्तु इस प्रकार के विवाह के पफलस्वरूप उत्पन्न पुत्रा या पुत्री विशुद्ध वर्णीय न होकर विशिष्ट जाति के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते थे। वर्णान्तर विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न जातियां एवं उपजातियां वर्णसंकर मानी जाती थीं। बौधयन ने वर्णसंकर जातियों को व्रात्य कहा है।[6] वर्णान्तर विवाह से उत्पन्न जातियां, विभिन्न सूत्राकारों की दृष्टि मे भिन्न-भिन्न मानी गईं। आपस्तम्ब केवल तीन जातियों (शेष, पोलकस एवं चाण्डाल) का ही संकेत करते हैं। गौतम ने पांच अनुलोम, छः प्रतिलोम एवं आठ अन्य वर्णसंकर जातियों का उल्लेख किया है। सूत्राकाल के आचार्यों ने इनका विस्तार से उल्लेख किया है। इनमें से कुछ निम्नवत हैं: अम्बष्ठ: गौतम के अनुसार अम्बष्ठ अनुलोम विवाह के प्रतिपफल हैं वे अम्बष्ठ को क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री की सन्तान मानते हैं।[7] जबकि बौधयन के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान है।[8] आयोगव: बौधयन ने इसे वैश्य-क्षत्राणी पुत्रा माना है।[9] किन्तु गौतम ने इसे शूद्र-वैश्या सन्तति माना है। उग्र: गौतम ने उग्र जाति को वैश्य-शूद्रा की सन्तान माना है[10] किन्तु बौधयन ने इसे क्षत्रिय-शूद्रा की सन्तति कहा है। करण: करण जाति वैश्य पुरुष एवं शूद्रा स्त्री की सन्तान मानी जाती थी।[11] क्षत: बौधयन के अनुसार क्षत जाति शूद्र-क्षत्रिया की सन्तान थी। यह प्रतिलोम विवाह से उपलब्ध् जाती थी।[12] चाण्डाल: चाडाण्ल अति निकृष्ट जाति मानी जाती थी। यह शूद्र पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री की सन्तान होती थी। यह जाति अपवित्रा एवं अस्पृश्य मानी जाती थी, इस जाति के द्वारा समाज के अपवित्रा कार्य जैसे शव ढोना आदि कराये जाते थे।[13] निषाद: गौतम ने निषाद जाति को ब्राह्मण पुरुष एवं वैश्य स्त्री की सन्तान माना है[14] परन्तु बौधयन इसे ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र स्त्री की सन्तान मानते हैं।[15] मागध्: मागध् जाति वैश्य-क्षत्रिया की सन्तान थी।[16] परन्तु बौधयन ने इन्हें शूद्र पुरुष एवं वैश्य स्त्री की सन्तानें माना है।[17] रथकार: यह वैश्य पुरुष एवं शूद्रा स्त्री की सन्तान थी।[18] वैदेहक: यह शूद्र-क्षत्रिया की प्रतिलोम सन्तान थी।[19] सूत: यह क्षत्रिय एवं ब्राह्मण स्त्री की सन्तति जाति थी।[20] इस प्रकार हम देखते है कि समाज में चतुर्वर्णों में परस्पर विवाह के पफलस्वरूप अनेकानेक जातियां उद्भूत हो चुकी थीं। यद्यपि सूत्राकारों ने वर्णान्तर विवाह को रोककर वर्णसंकर जातियों के अभ्युदय को गतिहीन बनाने का प्रयास किया, परन्तु इसमें वे असपफल रहे और शनैः-शनैः विभिन्न जातियों एवं उप-जातियों का समाज में उदय हुआ। विभिन्न जातियों एवं उपजातियों के अस्तित्व में आने क अनेक विवरण हमें महाभारत में भी प्राप्त होते हैं। महाभारत से ज्ञात होता है कि धन-लोभ एवं अज्ञान के कारण समाज में वर्ण-संकरता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि जाति निर्धरण करना कठिन हो गया था। महाभारत में 152 वर्ण संकर जातियों का संकेत मिलता है।[21] इनमें मुख्यतः निषाद, उग्र, वैदेहक, मागध्, अयोगव, करण, रथकार एवं सूत आदि जातियां हैं।[22] मनुस्मृति में भी इस संदर्भ में व्यापक विमर्श मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार जाति-बाहुल्य का कारण

www.ignited.in

परधर्मानुशीलन अथवा दूसरे वर्ण के कर्मों का अनुसरण करना था। इसके अतिरिक्त अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के पफलस्वरूप भी अनेक जातियाँ उत्पन्न हुई। इस प्रकार के विवाहों के परिणामस्वरूप वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति हुई थी।[23] मनुस्मृति इन वर्णसंकर जाति समूहों का विस्तरशः वर्णन करती है। मनुस्मृति में अनुलोम-विवाह के पफलस्वरूप जन्म लेने वाली जातियों की संख्या छः है।

परन्तु नामोल्लेख तीन जातियों का ही मिलता है। अम्बष्ठ: अम्बष्ठ ब्राह्मण पुरुष एवं वैश्य स्त्री के विवाह का पफल होता था।[24] यह जाति समूह मुख्यतः चिकित्सा-कर्मी होता था।[25] निषाद: निषाद ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्रा के समागम का पफल होते थे। ये चैर्य-कर्मी होते थे।[26] उग्र: उग्र जाति क्षत्रिय और शूद्रा की सन्तान होती थी इस जाति समूह का मुख्य कार्य पशु सम्बन्धी एवं क्रूर आचार वाले कर्म होते थे।[27] मनु द्वारा वर्णित प्रतिलोम जाति समूहों में आयोगव[28], क्षत[29], चाण्डाल[30], मागध[31], वैदेहक[32], सूत[33] का उल्लेख मिलता है। यह वर्णसंकर समूह जाति थे या नहीं? इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों की पहचान करने वाले डॉ. सुरेन्द्र कुमार का मत है कि यह विवरण मनु की भावना के प्रतिकूल है। मनु वर्ण-व्यवस्था के पोषक हैं जाति-व्यवस्था के नहीं। उन्होंने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। कुछ अन्य विद्वान् इन्हें वर्णसंकर मानते हैं वर्तमान की जातियों नहीं। निश्चय ही विवाह सम्बन्धें से विकसित इन समूह विशेषों को वर्तमानकालिक जाति-व्यवस्था से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए। यह सभी लोग न तो अछूत थे और न अकुशल। अनेक सामाजिक दायित्वों का यह निर्वहन करते थे। हाँ! इतना अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह वर्णसंकर समूह वर्तमानकालिक जाति-व्यवस्था की आधर भूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कारक बने हैं। बौद्ध युग तक आते-आते हमें जाति-व्यवस्था के संगठित एवं व्यवस्थित स्वरूप के दर्शन होते है। तद्युगीन समाज में चतुर्वर्ण अनेकानेक जातियों में प्रस्पफुटित होने लगा था। इस युग में पुष्पित जातियों के जन्म-सूत्रा मुख्यतः शिल्प एवं धंधे ही थे। बौद्ध युग में विकसित इन जातियों को शिल्प एवं धन्धे के आधर पर इतिहासकारों ने समझने का प्रयास किया है। इतिहासकारों की दृष्टि से इनका सामान्य वर्गीकरण निम्नवत् है[34]

1. धतु सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
2. मणि एवं दन्त सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
3. काष्ठ सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
4. कुम्भ सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
5. चर्म सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
6. वस्त्रा सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
7. नाई,
8. समुद्र सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
9. चित्राकार सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
10. शिकार सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
11. भोजन सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
12. पुष्प सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
13. जंगली वस्तु सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
14. भवन-निर्माण सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
15. सैन्य एवं अस्त्रा-शस्त्रा सम्बन्धी शिल्पी जातियाँ,
16. मनोरजंनार्थ शिल्प करने वाली जातियाँ,
17. शिक्षात्मक एवं स्वास्थ सम्बन्धी शिल्पी जातिया तथा
18. श्रम सम्बन्धी शिल्पी जाति। भारत में जिस रूप में वर्तमान में जाति पाई जाती है वह शताब्दियों की अवधि में विकसित हुई है। जाति-व्यवस्था के विकास को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं।

उपजातियाँ: स्वरूप एवं विकास:

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति एवं प्राचीनता के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त ऐकमत्य दृष्टिगत होता हैं। ऋगवेद के पुरुषसूक्त के अनुसार ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्म (भगवान) के मुख से, राजन्य (क्षत्रिय) की बाहु से, वैश्य की जांघ से और शूद्र की पैरों से बताई गई है। ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) वैश्य और शूद्रों के उल्लेख से सिद्ध है कि ऋग्वेदकाल में चार वर्ण अस्तित्व में थे। ऋगवैदिक काल में कुछ वर्ग तथा व्यवसाय अस्तित्व में थे। किन्तु वे वंशानुगत नही थें। रुचि एवं योग्यता के आधर पर कोई भी पुरोहित, योद्धा अथवा व्यवसायी बन सकता था। ऋग्वेद में विभिन्न वर्गों व व्यवसायों के बीच साथ भोजन ग्रहण करने तथा परस्पर वैवाहिक संबंध् स्थापित करने पर कोई प्रतिबन्ध् नहीं था। समालोचकों का आकलन है कि वर्ण की गलत व्याख्या के कारण जाति का उद्भव हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णो को जाति के नाम से जाना जाने लगा। ब्राह्मण को ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय को क्षत्रिय जाति, वैश्य को वैश्य जाति तथा शूद्र को शूद्र

जाति से जाना जाने लगा। वर्ण के जाति में परिवर्तित होने का मुख्य कारण बना जन्म एवं वंशानुगत व्यवसाय। प्रत्येक जाति का एक परम्परागत (वंशानुगत) निश्चित व्यवसाय होता था जो एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तांतरित होता रहता था। कुछ परिस्थितियों में व्यक्ति अपना व्यवसाय बदल लेता था जिसकी अनुमति थी। जिस कारण अनेक उपजातियों का उदय हुआ।

उपजाति, जाति का उपविभाजन है। जैसे राजपूत जाति, चार उपजातियों में विभक्त है-सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, नागवंशी और अग्निवंशी। सूर्यवंशी पुनः तीन उपजातियों में विभक्त है-गहलोत, कछावा तथा राठौड़। गहलोत पुनः तीन उपजातियों में विभक्त है। सिसौदिया, रानावत और शक्तावत। इसी प्रकार कछावा तथा राठौर भी तीन-तीन उपजातियों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे अम्बष्ठ, माथुर, सक्सेना, श्रीवास्तव, निगम एवं भटनागर आदि। ब्राह्मण जिसे जाति कहकर सम्बोधित किया जाता है यह गलत है, वास्तव में ब्राह्मण एक वर्ण है तथा अनेक जातियों का मण्डल है। ब्राह्मण में कान्यकुब्ज, सरयूपारी, कन्नौजिया, सकलदीपी तथा गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं।

उपजाति की उत्पत्ति के संबंध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। पहले दृष्टिकोण के अनुसार इनका उद्गम माता-पिता के समूह के विखण्डन से है जबकि दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्रा समूहों से हूई है। इस प्रकार के विखण्डन प्रायः आबादी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाने या किसी राजनैतिक या सामाजिक कारणों से होते थे। किन्तु वर्तमान में इस प्रवृत्ति का कारण यह रहा है कि नीची समझी जाने वाली जातियों में जो लोग समृद्ध हो जाते हैं वे अपने परम्परागत व्यवसाय वाले भाईयों से अलग हो जाने की कोशिश करते हैं तथा कोई अन्य नया नाम धरण कर एवं अपनी उत्पत्ति किसी उफँची जाति से जोड़कर अपना सामाजिक स्तर उफपर उठाने की कोशिश करते हैं। 35 इतिहासकारों की दृष्टि में वर्तमान समाज में जिन उपजातियों का अस्तित्व विद्यमान है, प्रायः उन सबका उदय राजपूत-युग में हुआ था।

उपसंहार

वर्ण-व्यवस्था का प्रथम प्रस्ताव हमें ऋग्वेद के पुरफषसूक्त में उपलब्ध् होता है। यह सूक्त ऋग्वेद के साथ-साथ कुछ पाठभेद एवं मन्त्राभेद से अन्य संहिताओं में भी मिलता है। पुरफषसूक्त के अनुसार विराट्-पुरफष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य व पैर से शूद्र पैदा हुए। इस सूक्त में विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का जिन शब्दों और जिस पद्धति के द्वारा निरूपण किया गया है वह शब्द और पद्धति नितान्त रहस्यमय है। अभिधर्थ में उनका भाव ग्रहण करने पर यह शब्द और पद्धति सामाजिक कटुता की उत्पादिका बन रही है। वस्तुतः वर्ण सम्बन्धी समस्त वक्तव्य या आकलन इसी बिन्दू पर टिके हैं कि सम्बंधित विश्लेषक ने इन शब्दों या इस पद्धति को किस दर्शनिक रूप में ग्रहण किया है। बहुध विश्लेषक इन पदों का अभिधेयार्थ ग्रहण करके ही वैदिक वर्णव्यवस्था का विश्लेषण करते हैं। स्पष्ट ही है कि पुरफषसूक्त के वर्ण विषयक वक्तव्यों को अभिधर्य में ग्रहण करने पर अनेक आपत्तिजनक तथ्य दिखाई देंगे। वस्तुतः पांव कोई ऐसे स्थान नहीं हैं जहां से किसी की उत्पत्ति हो सके। वर्ण-व्यवस्था के मुख्य चार घटकों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का योग्यता एवं गुणानुसार कार्य-विभाजन था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार विद्यादि के प्रसार तथा स्वाध्याय एवं शोधदि के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को ब्राह्मण वर्ण में रखा गया। समाज का विद्वत् वर्ण, ऋषि आदि इस वर्ण में गिने जाते थे। इस वर्ण का ज्ञानार्जन, पिफर उस अर्जित ज्ञान को समाज के कल्याण के लिए शिष्यों सहित जन-जन तक पहुचानें का दायित्व दिया गया था। यज्ञ आदि का प्रचार प्रसार भी इनका कार्य था। ये तप, ज्ञान, स्वाध्याय, प्रवचन और तपस्या से राष्ट्र का बल और ओज बढाने में सहायक थे। वैदिक युग की समाप्ति पर वर्ण-व्यवस्था के विकृत 332 हो जाने तथा उसके द्वारा जातीय आधर ग्रहण कर लेने पर ब्राह्मण की स्थिति अत्यध्कि सुदृढ हो गई थी। राजा सहित अन्य वर्ण उसके वंशवर्ती हो चले थे। तैत्तिरीयसंहिता में ब्राह्मण को ईश्वर की संज्ञा दी गई। ब्राह्मणों को इस युग के जीवित देवता के रूप में माना जाता था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद, स्वामी दयानन्द सरस्वती, प्रकाशक श्रीमद्परोपकारिणी सभा, अजमेर
2. अष्टाध्यायी सूत्राप्रयोगदीपिका, भाष्यकार एवं प्रकाशक-सत्यानन्द वेदवागीश, ए-131, सेक्टर-55, नोएडा उत्तरप्रदेश प्रथम संस्करण, वि. सं. 2062
3. आपस्तम्ब धर्मसूत्रा, डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चैखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी सम्वत्-2056
4. ईशावस्योपनिषद्, उपनिषद्संग्रह, पण्डित जगदीश शास्त्री, मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी
5. ऋग्वेद, एपफ॰ मेक्समूलर, एम॰ए॰, चैखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-1

www.ignited.in

6. ग्वेदभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द सरस्वती, सम्पादक-सम्पूर्णनानन्द सरस्वती, सिद्ध योगपीठ प्रैस ट्रस्ट, जी॰टी॰ रोड़ पीपली, कुरुक्षेत्रा

7. ऐतरेय ब्राह्मण, सम्पादक डॉ. सुधकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

8. काठक संहिता, सम्पादक सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, गुजरात, 1983

9. गौतम धर्मसूत्रा, डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चैखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

10. छान्दोग्योपनिषद्, उपनिषद्संग्रह, पण्डित जगदीश शास्त्री, मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी, 1980

11. तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दश्रम मुद्राणालय सम्वत् - 1969

12. तैत्तिरीय ब्राह्मण. प्रो॰ पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, नई दिल्ली

Corresponding Author

Jamuna Lal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan